भारतीय नाट्यशास्त्र उत्पत्ति : सामाजिक पृष्ठभूमि

* कादम्बरी शर्मा

समाज के दलित वर्ग को समान अधिकार दिलाने का पहला ईमानदार और व्यापक प्रयास नाट्यशास्त्र में किया गया। यह प्रयास ब्राह्मण सवर्णों की और से किया गया था। यह सच है कि इसकी व्यापक पृष्ठभूमि में भी जो पौराणिक प्रभामंडल बनाया गया है, उसका कारण भी सम्भवतः यही है कि भारत का तब का मानस पृष्ठभूमि के बिना किसी भी बात को स्वीकार कर ही नहीं पाता था। चार वेद तो थे ही, पर नाट्य को पाँचवें वेद के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह पाँचवा वेद भी इतर वेदों के समान क्रियात्मकता या कर्मकाण्ड से भरपूर है, कर्मप्रधान है। पर इसकी पद्धति उनसे मूलतः भिन्न है। नाट्यवेद तब की जनता में मनोरंजन के लिए वह शास्त्र बनकर नाट्यशास्त्र में अवतरित हुआ है। इसलिए यह तब शास्त्र होते हुए भी जनता की अपनी बात थी। यह नहीं भूलना चाहिए कि तब भी ऐसे ही ब्राह्मणों की बहुलता थी जो अपढ़ गँवार थे। पढ़े लिखे तो कुछ ही ब्राह्मण होते थे और वे ही वेदज्ञ पंडित होते थे। शेष तो ब्राह्मणबन्धु ही होते थे जो बधुआ ब्राह्मणेत्तर कार्य करते थे, उनकी जीविका पढ़ना–पढाना हो ही नहीं सकती थी। इन ब्राह्मणों सहित समाज का निष्क्रिय वर्ग जैन और बौद्ध साधु के रूप मे दीक्षित हो जानता का भार बढ़ाता चला गया। इस ग्राम्य सभ्यता की ओर नाट्यशास्त्र में सड. क्ेत भी दिया गया है–

ग्राम्यधर्मे प्रवृत्त तु कामलोभवंश गते।/ईर्ष्याक्रोधदिसम्मूढे लोके सुखितदुःखिते।[1]

और वे सारी तामस–राजस प्रवृत्तियाँ उन लोगो में होती थीं जो सभ्य और सभ्येत्तर सभी लोगोंमें होती हैं–सुख और दुःख, काम और लोभ, ईर्ष्या और क्रोध। इन द्वन्द्वों से मुक्ति की प्रक्रिया धर्म और दर्शन ग्रन्थों में है। पर इनमे लिप्त रहते हुए उनकी अभिव्यक्ति नाट्य में होती है। समाज में हर प्रकृति के लोग होते हैं। वे प्रवृत्तियाँ देव की भी हो सकती है और दावन की भी, गन्धर्व की भी और यक्ष की भी, राक्षस की भी और नागों की भी हो सकती है।

देव–दानव–गन्धर्व–यक्ष–रक्षे–महोरगैः।/जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते लोकपालप्रतिष्ठिते।[2]

समूचे देश में या तब के वृहत्तर भरत में ये जातियाँ अथवा इन जैसी प्रवृत्ति के लोगों का निवास था। तब किसी ऐसे खेल की जरूरत महसूस हुई जो इन सबको रूचिकर लगे। रूचिकर तभी लगेगा जब वे अपनी–अपनी प्रवृत्तियों को भी उस खेल में पा सकें। वे खेल तो समाज में पहले से व्याप्त थे ही, पर उन्हें शास्त्रीय स्वीकृति मिल नहीं पायी थी। उसी स्वीकृति के लिए नाट्यशास्त्र की रचना की भूमिका बनायी गयी और वह सारा प्रभामण्डल बनाया गया जो पुराणेचित है। वास्तव में यहाँ चातुर्वर्ण्य में शूद्रों की भागीदारी थी जिसमें ऐसे आयोजन की कामना थी जिसमें सब मिलकर एक साथ सम्मिलित हो सकें। जिस प्रकार होली का उत्सव पूरे समाज का उत्सव होता है उसी प्रकार दिन के काम–काज से निवृत्त हो रात्रि मे सब वर्ण के लोग एकत्र हो इसमें एक साथ बैठकर देखने का आनन्द लेते थे और लेते हैं।

महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरूक्तः किल पितामहः।/क्रीडनीयमिच्छामोः दृश्यंच यद्भवेत।।/न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिष। / तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्।।[3]

वास्तव में वेदों के सीमित दृष्टिकोण के विरूद्ध जी ई.पू. छठी सदी के लगभग व्यापक रूप मे विरोध हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप जैन और बौद्ध परम्पराओं का उदय और पोषण हुआ था, जिनमें वर्णभेद को अनुचित ठहराकर सड़े फल के समान फेक दिया गया था, यह उसी अनुभव और मानसिकता मे से उपजा शास्त्र था। श्रेय की वह परम्परा वास्तव में नाट्यशास्त्र रचने की भूमिका बनाती है। ऐसी धाराएँ केवल दो ही नहीं थी अनेक थीं।

भारत मे जब उपनिषद के दार्शनिक विचार तैयार हो रहे थे, तभी उससे विपरीत दिशा में जाती दूसरी विचारधाराएँ भी चल रही थी। पर कुछ ऐसे भी विचारक थे जो वैदिक परम्परा से बाहर जाकर विचार करना चाहते थे। भौतिकवादियों में चार्वाक पहला है जिसने वेदों को अस्वीकार कर दिया। खाना, पीना और मस्त रहना उसका नारा था। जन–चित्तवृत्ति के अनुरूप होने से यह विचार तब भी लोकप्रिय था और आज भी है। उस विचार में जीवन का भोग त्याज्य नहीं है। बुद्धकालीन दार्शनिकों में भौतिकवादी अजित देशकम्बल (523 ई.पू.) बुद्ध से उम्र से अधिक थे। त्रिपिटक से इनके विचार ज्ञात होते है। दान, यज्ञ बेकार हैं। सुकृत–दुष्कृत कर्मों का फल नहीं, लोक–परलोक नहीं, देवता नहीं, ऐसे ब्राह्मण–श्रवण नहीं, जो सत्य तक पहुँचे, लोक–परलोक का ज्ञान करायें। पानी, आग, वायु, पृथ्वी–बस ये चार ही भूत है। आहुतियाँ राख हो जाती है। दान करने का उपदेश मूर्खों का है। शरीर छोड़ने पर मूर्ख और पण्डित अभी उच्छिन्न हो जाते है। मक्खलि गोशाल (523 ई.पू.) अकर्मण्यतावादी था। यह महावरी–विरोधी था। यह भाग्यवादी पुनर्जन्म और देवताओं को मानता था। प्रकृध कात्यायन (ई.पू. 523) नित्यपदार्थवादी है। यह हर वस्तु को अचल तथ नित्य मानता है। इसलिए कोई कर्म वस्तुथिति में कोई परिवर्तन नहीं ला सकता – इस तरह वह भी अकर्मण्यतावाद के निकट पहुँच जाता है। अनजाने ही उस बात को दास मलूका ने कह भी दिया था।

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।/दास मलूका कह गए सबके दाता राम।।

पूर्ण काश्यप (523 ई.पू.) के विचार महावीर से इस तरह

* सहा. प्राध्यापक संस्कृत, शा. संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

भिन्न हैं कि महावीर 'हाँ' पर जोर देते थे और संजय 'नहीं' पर। बुद्ध और महावीर तो वैदिक धारा के आलोचक थे ही। इस प्रकार तब के वातावरण में वेदेतर और श्रमणेतर विचार तैरने लग गए थे। ये विचारक बुद्ध के पूर्व तथा समकालीन है। उस काल में इनके विचार का प्रभाव जनता में इतना प्रबल था कि बौद्ध और जैन ग्रन्थों में ये अपरिहार्य रूप से उद्धृत हुए हैं। जब समूचा समाज ही, समूचा प्रबुद्ध वर्ग ही परम्परागत व्यवस्था पर पुनर्विचार करने लग गया था, तब यह कैसे होता कि वैदिक परम्परा के अनुयायियों के विचार भी प्रभावित न हों। पूर्वोक्त रैक्व और छान्दोग्य उस ओर पहले ही प्रवृत्त हो चुके थे। उसी विचार–श्रृंखला के परिवेश में नाट्यशास्त्र जैसे ग्रन्थ सामने आते है जो सुधारवादी दुष्टिकोण को अपनाते हैं, जो वेद का निषेध न करते हुए, नए लोकप्रिय पथ को स्वीकार और प्रवर्तन करता है। ये सभी अपनी क्षमता के अनुरूप सामाजिक विषमताओं के विरूद्ध आवाज उठा रहे थे। स्पष्ट ही ब्राह्मणों तथा वैदिकों का ही एक वर्ग अपनी परम्परा का विरोध करने के लिए उठ खड़ा हुआ था। नाट्यशास्त्र तत्कालीन समाजव्यापी उसी मानसिकता की उपज प्रतीत होता है जो सबके लिए है, जिसमें किसी का प्रवेश निषिद्ध नहीं है। ऐसे उत्सव भी थे जिन्हें सब मिलजुलकर मनाते थे। इन नाट्यों को ब्राह्मणों पण्डितों सहित पूरे समाज की मान्यता हो, इसीलिए कहा गया कि चारों वेदों से विभिन्न तत्व लेकर ही इसकी रचना होने से पांचवां वेद है। इस कारण यही है कि तब वेदबाह्य को बहुध ा तत्काल सामाजिक स्वीकृति मिलना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य था। हर शास्त्र श्रुति–सम्मत होना चाहिए था। इसीलिए उसमें श्रुति का समन्वय किया गया, धर्म का समन्वय किया गया, समाज के हर वर्ग और उनके देवी–देवताओं का समन्वय किया गया, क्योंकि यह सबके लिए था और है।

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।/यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।

पूरा समाज विभिन्न लोकदेवताओं तथा लोकविश्वासों पर टिका रहता है। अब से लगाकर तब तक का भारत भी इन परम्पराओं में, उन विश्वासों में जीता रहा। सारा देश मानो इन देवताओं और इनकी प्रभावी प्रवृत्तियों से आक्रान्त है। इस ओर नाट्यशास्त्र के पूर्वोक्त श्लोक ''देवदानवगन्धर्वयक्षरक्षेमहोरगैः'' इत्यादि में संकेत भी किया गया है। इन लोकदेवताओं को बुद्ध और महावीर आदि श्रमणों ने अस्वीकार कर दिया था। इसके कई प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। परन्तु कालान्तर में जब देखा गया कि समाज इनके प्रति अपनी आस्थाओं से डिग नहीं सकता तभी सम्राट अशोक ने घोषणा कर दी कि परम्परागत देवी–देवताओं को बौद्ध धर्म में भी स्वीकार किया जाता है – 'अमिसा देवा मिसा कटा'। यही स्थिति अन्य मतावलम्बियों को भी हुई। परिणामतः परवर्ती बौद्ध तथा जैन सहित समूचे साहित्य और कला में इन लोकप्रतिष्ठित देवताओं का भरपूर अंकन प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र वैदिक परम्परा में पल्लवित हुआ और इसमें विभिन्न लोकदेवताओं को स्वीकृति दी गयी। इसलिए भी तब नाट्य बौद्धों तथा जैनों द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ। पर कालान्तर में जब परम्परागत लोकदेवताओं को स्वीकृति दे दी गयी तो विभिन्न अन्य कारणों से भी जनता का बहाव इन पंथों की ओर हो गया। स्वभावतः इनके साथ सदियों से इनमें प्रचलित मनोरंजन के साधनों समाज, उत्सव, यात्रा इत्यादि का भी प्रवेश हो गया। जैन राजा खारवेल का उदयगिरि गुहालेख इसका प्रमाण है। इस नाट्यवेद की रचना इतिहाससहित की गयी – ''नाट्यसंज्ञामिमं वेदं सेतिहास करोम्यहम्।''[5] यहाँ इतिहास से तात्पर्य परम्परा के ज्ञान से है। स्पष्ट ही नाट्यशास्त्र परम्परागत विभिन्न ज्ञानों को समेट कर चल रहा है। प्राचीन ग्रन्थकार प्रायः इतिहास और आख्याओं के रूप में ही मिथकों का समायोजन कर लेते थे। मिथक के बिना तब कोई आरम्भ ही सम्भव नहीं था। इसीलिए नाट्योत्पत्ति के सन्दर्भ में भी देववर्ग का मिथक जोड़ा गया है। नाट्यशास्त्र को इतिहास ही कह दिया गया है, रचकर वह जनता को सौंप दिया गया। ''इतिहासो मया सृष्टाः स सुरेषु नियुज्याताम्'' पर अपनी अभिनवभरती टीका में अभिनवगुप्त कहते हैं कि ज्ञान का पर्याप्त विकास इतिहास है – ''इतिः ज्ञानम्। तस्य हासो हषपूर्वको विकासो यह इति केचित्। इतिहासश्चत्तल्लक्षणमित्थं किलासन यत्र रूपकभेदानां भण्यते।'' भर्तृहरि के अनुसार पूर्वचरित संकीर्तन इतिहा है – इतिहासः पूर्वचरितसंकीर्तनम्।[8] वास्तव में पुराविवरण इतिहास है। नाट्यशास्त्र में सबका समाहार कर दिया गया–इतिहास का और आख्यान का। इन सबसे पूरित यह शास्त्र विनोदजनक हो जाता है।

वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्।/विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।।[9]

इससे यह स्पष्ट है कि पुरातनों की दृष्टि में इतिहास और मिथक में भेद नहीं था। मिथकों की परम्परा और प्रस्तुति तो निरूक्त जैसे वेदाग्डों तक में हुई है, फिर नाट्यशास्त्र तो लोक के लिए जनसामान्य के लिए रचा गया शास्त्र है। उसमें जनता के हर वर्ग का उपयोग किया और लिया जाता है। भरत के सौ पुत्रों की जो परिकल्पना है उसमें समाज के विभिन्न वर्गों और लोगों का प्रतिनिधित्व हो जाता है। उसमें काकजघ्ड है तो तापस भी है, दीर्घगात्र है तो पिग्डल और चित्रक भी है। वहाँ बन्धुल तक को स्थान प्राप्त है जो समाज में हेय समझा जाता था। कालिय है, अश्मकुट्ट भी है, वीभत्स है तो विलक्षण भी है। पुण्ड्राक्ष व पुण्ड्रनास भी है। असित है और सित भी शठ भी है। विभिन्न भूमिकाओं के लिए ऐसे विभिन्न प्रकार के लोगों के सहयोग को भरत भूलतें नहीं है। यह उनकी व्यापक दृष्टि और समूचे समाज को साथ लेकर चलने की आवश्यकता का संकते है। निषेध किया गया है तो केवल पाखण्डियों और श्रमणों का–क्योंकि उन्होंने तब नाट्य का विरोध कर रखा था। उत्सार्याणि त्वनिष्टानि पाषण्डाश्रमिणास्तथा।[10] इस प्रकार भरत ने अपना युग ही नहीं, अपनी रचना की पूरी पृष्टभूमि मिथक के रूप में प्रस्तुत की है।

सन्दर्भ–

1. नाट्यशास्त्र 1.9 2. वही, 1.10 3. वही, 1.11–12 4. वही, 1.17 5. वही, 1.15 6. वही, 1.19 7. अभिनय भारतीय 1. 15 8. द्रष्टव्य, महाभाष्यदीपिका, पृ. 41 9. ना.श. 1.122 10. वही, 2.41